तर्कणा की न्याय परम्परा (सारांश)

प्रोफेसर जे0 एस0 दुबे
भोपाल
सह–अध्येता
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

भारतीय शास्त्रीय परम्परा में न्यायशास्त्र अपनी तर्कप्रणाली के लिए सुविख्यात है। षोडश पदार्थों की प्राचीन न्याय द्वारा स्थापना तथा चार प्रमाणों की नव्य न्याय द्वारा व्याकृति स्वयं में अद्‌भुत है। प्रमाणों की आंतरिक व्यवस्था प्रमाण सम्प्लव एवं प्रमाण – व्यवस्था द्वारा गुंफित की गई है तो जनमानस के दैनन्दिन कार्यों में काम आने वाले अनेक उदाहरणों को अपने तर्कशास्त्र का विषय बनाकर न्याय परम्परा ने सामान्य मनुष्य को भी तर्क करने की व्यवस्थित विधि प्रदान की है।

आधुनिक समाज में भी यत्र –यत्र सर्वत्र व्यापक उदाहरणों में अनेक उदाहरण न्याय के तर्क की कसौटी पर वैसे ही खरे हैं जैसा आदि संस्थापकों ने वर्णित किया। सामान्य मनुष्य इस तर्कणा शास्त्र का प्रयोग तो करता है पर इसकी प्रविधि से वह अनजान होता है। मेरा आशय ऐसे उदाहरणों के साथ उनकी तर्क प्रणाली या तर्क प्रविधि को समक्ष प्रस्तुत करना है जिससे स्वयं भारतीय प्रबुद्ध वर्ग भी अनजान है। प्रमाण सम्प्लव एवं प्रमाण व्यवस्था भी इसका अन्यतम उदाहरण है। एक प्रमेय वाक्य को सिद्ध करने हेतु अनेक प्रमाणों को एकत्रित करना प्रमाण सम्प्लव कहलाता है तो एक प्रमेय हेतु एक प्रमाण का उपयोग प्रमाण –व्यवस्था कहलाता है। इन्हीं आंतरिक शासनों का उपयोग कर सामान्य तर्कणा पद्धति का विकास इस पत्र का उद्‌देश्य है।

———— ———— ————

तर्कणा की न्याय परम्परा

प्रोफेसर जे0 एस0 दुबे, भोपाल
एसोसिएट (मार्च 2018)
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान,
शिमला

भारतीय दर्शनों का दो प्रकार के विभागों में विभाजन किया जा सकता है। प्रथम – प्रमेय प्रधान जिसमें वेदान्त, मीमांसा, योग और वैशेषिक दर्शन सम्मिलित हैं। द्वितीय – प्रमाण प्रधान – जिसमें न्याय, सांख्य, जैन एवं बौद्ध आदि दर्शनों को सम्मिलित करते हैं। सांख्य की उक्ति है – प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि अर्थात् प्रमेय एवं पदार्थों का निश्चय प्रमाणों से होता है।

परम्परया न्याय दर्शन की दो धाराएं वर्तमान में स्वीकृत हैं। प्रथम – प्राचीन न्याय – जो षोडश पदार्थों का मूलभाव ग्रहण कर पदार्थवाद की स्थापना करता है। द्वितीय – नव्य न्याय – जो प्रमाण मीमांसा को ज्ञान का मूल मानते हुए 'गंगेश के तत्वचिन्तामणि' द्वारा चार प्रमाणों को ज्ञान का आधार बनाता है।

प्रमाण – मीमांसा का प्रादुर्भाव कब से स्वीकार किया जाए? इस संबध में विद्वानों में मतभेद रहा है। परन्तु यदि प्रमाणों का आदि स्त्रोत वेद को स्वीकार कर लिया जाए, तो कठिनाई दूर हो सकती है। ज्ञान प्राप्ति संबंधी अनेक वर्णन वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों में उपलब्ध हैं। वेद में कई स्थानों पर प्रत्यक्ष एवं प्रमा शब्द का भी व्यवहार हुआ है। अथर्ववेद में दर्शन में व्यवहृत ठीक 'प्रमा' शब्द का प्रयोग है। यजुर्वेद में वर्णन है – 'सहस्तोमाः सहस्छन्दस आवृतः सहप्रमाऋृषयः सप्तदैव्याः' अर्थात् जो अज्ञान से आवृत है, उसे प्रमाणादि के ज्ञान में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करायें। तात्पर्य यह है कि वैदिक मनीषा का सूत्र पकड़कर ऋषियों ने तर्क और युक्तियों से दर्शनों का विकास किया है।

ऋग्वेद में ज्ञान, यजुर्वेद में कर्मविधान, सामवेद में उपासना अर्थात् आत्मविद्या और अथर्ववेद में विज्ञान संबंधी सामग्री का वर्णन मिलता है। तत्वज्ञान हेतु भारतीय परम्परा में दो विधाएँ द्रष्टव्य हैं– प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक। प्रातिभ चक्षुओं द्वारा तत्व विवेचन की प्रक्रिया प्रज्ञामूलक है जबकि तत्वों की

समीक्षा हेतु द्वितीय विधा तर्क मूलक है। न्याय परम्परा ने इसी द्वितीय विधा को प्रमाण–मीमांसा हेतु आत्मसात किया है।

न्यायसूत्र के रचयिता महर्षि – गौतम हैं। इस न्यायसूत्र में षोडश पदार्थों का वर्णन है। ये हैं – प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। इन पदार्थों का उपयोग वादी – प्रतिवादी द्वारा सिद्धान्त निर्णय के लिए किया जाता था। (भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर वाराणसी पृ. 171)

न्यायवचन है– प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः अर्थात् अर्थ का परीक्षण करना न्याय है। अर्थ शब्द का एक अर्थ प्रयोजन भी होता है। जिस प्रवृत्ति का प्रयोजन या फल सिद्ध नहीं होता है, उसे व्यर्थ प्रवृत्ति कहते हैं। यदि प्रवृत्ति का प्रयोजन सिद्ध होता है, उसे 'समर्थ प्रवृत्ति' कहते हैं। प्रमाण से अर्थ का बोध होने पर उससे होने वाली प्रवृत्ति समर्था कहलाती है। उस स्थल में अर्थ बोध भी समर्थ रहता है अतः उसमें सामर्थ्य भी रहता है– 'समर्थाया भावः सामर्थ्यम्'।

प्रमाण से प्रमाण का भी ज्ञान होता है किन्तु वह ज्ञान प्रवृत्ति का जनक नहीं होता। इसीलिए कहा गया – 'अर्थप्रतिपत्तौ' । प्रमाणाभास से भी भ्रमात्मक ज्ञान होता है किन्तु वह सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं होता अतः कहा – प्रमाणतः । भाष्यकार कहते हैं – 'प्रमाणमन्तरेण नार्थ प्रतिपत्तिः अर्थात् – प्रमाण के बिना अर्थ का बोध नहीं होता।

यह अर्थ क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान में भाष्यकार कहते हैं– 'अर्थास्तु सुखं, सुखहेतुः, दुःखं, दुःखहेतुश्च। सुख और सुख के हेतु जीवों के ग्राह्य पदार्थ हैं, एवं दुःख तथा दुःख के हेतु त्याज्य पदार्थ के रूप में मान्य हैं। जो न तो ग्राह्य है, न त्याज्य, उसे उपेक्षणीय पदार्थ कहते हैं। इस उपेक्षणीय पदार्थ में न तो ग्रहण की इच्छा होती है, न त्याग की। अतः उसमें प्रवृत्ति – सामर्थ्य की बात नहीं की जा सकती। भाष्यकार का तात्पर्य अर्थ पद से ग्राह्य और त्याज्य पदार्थ ही हैं। अर्थ की उपलब्धि या ज्ञान होने पर उसकी प्राप्ति अथवा त्याग की इच्छा होती है और इच्छा होने पर उस विषय में ज्ञाता जीवात्मा का प्रयत्न होता है। इसीलिए कहते है :–'तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य' (न्याय दर्शन, न्यायभाष्य सं0 – अम्बिकादत्त शर्मा, भा.दा.अनु.परि., 2015, पृ. 75–76)

महर्षि गौतम सम्मत 'प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः प्रमाणसिद्धिश्च लक्षणा' नामक सर्वतन्त्र कहे जाने वाले अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशिभट्ट प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। तीनों की शैली वितण्डावादी है जिनका पर्यवसान प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। इस पृष्ठभूमि में प्रमाण – सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था की समस्या गौतम तथा अन्य तार्किकों के प्रस्थान से संबंधित है। सर्वप्रथम इसे वात्स्यायन ने परिभाषित किया और कहा – 'एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को क्रमशः सम्प्लव और व्यवस्था कहा जाता है। ('न्यायभाष्य, 1.2.3, प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिससम्प्लवः असम्भवो व्यवस्थेति' ।इसी शब्दावली को उद्योतकर साड.कर्य तथा असाड.कर्य कहते हैं।

भारतीय दर्शन में प्रमाण –सम्प्लव और प्रमाण व्यवस्था का विवाद मुख्यतः प्रमाणमीमांसा से संबंधित है। प्रमाणों की संख्या एकाधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए भी प्रमाण विनियोग का अवधारणा का निर्धारण आवश्यक है। चार्वाक चूंकि एकल प्रमाणवादी है अतः उसके लिए कोई समस्या नहीं है। प्रश्न उठता है कि क्या प्रमाण एक दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि संभव होती है? क्या एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा जाना जा सकता है? इन मूल प्रश्नों पर नैयायिक और बौद्ध दो अलग–अलग खेमे बना लेते हैं। बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण – व्यवस्था को अनुभव विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि प्रसिद्ध है।

अतः अब स्पष्ट है कि सामान्य अनुभव के धरातल पर न्याय प्रमाणसम्प्लव का समर्थन करता है। हम घट को चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा जान सकते हैं। पर्वत की अग्नि को अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से जाना जाता है। पर प्रश्न उठता है कि चाक्षुष और स्पर्श के द्वारा तो हम घट के रूप और कठोरता को ही जानते हैं। रूप और कठोरता ही घट की सम्पूर्ण सत्ता नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इंद्रियों की प्रवृत्ति के संबंध में सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है। (श्लोक वार्तिक,

प्रत्यक्षगतधर्मानिमित्तत्वसूत्रम्, 170) मूर्त द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दोनों इंद्रियों से होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का प्रत्यक्ष तत्तद् इंद्रियों द्वारा होता है। यहां इंद्रियों की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दीखती है। वास्तव में, द्रव्य और गुण में भेद करते हुए गुणों को द्रव्याश्रित मानने वाले नैयायिकों को द्रव्य की दृष्टि से इंद्रिय सम्प्लव और गुण की दृष्टि से इंद्रिय – व्यवस्था माननी ही चाहिए। नैयायिकों के अनुसार –प्रत्यक्ष जातिविशिष्ट व्यक्ति को प्रकाशित करता है इसलिए सभी इंद्रियों के द्वारा जाति–व्यक्ति युक्त घट के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है। बौद्ध नैयायिक अनित्यता के कारण सम्बन्ध को भी अनित्य मानते हैं। नैयायिक इन आक्षेपों से बचने के लिए सम्बन्ध मात्र को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करते हैं। समस्त संबंध बाह्य होने के कारण वस्तुगत हैं, आत्मनिष्ठ कुछ भी नहीं। यहां तक कि वस्तुज्ञान के साथ–साथ ज्ञान का ज्ञान भी एक बाह्य वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर आधारित माना गया। अतः नैयायिक सप्तपदार्थी तत्वमीमांसा के आधार पर भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रमाणों का सम्प्लव दिखाते हैं।

प्रमाण की इस आंतरिक न्याय व्यवस्था के संक्षिप्त वर्णन से हमारा आशय केवल न्याय– परम्परा से अवगत कराना है। प्रस्तुत शोध – कार्य का लक्ष्य कदाचित् इससे भिन्न है। न्याय –परम्परा ने हमारे दैनन्दिन जीवन के प्रायः प्रत्येक पक्ष का निकटता से अनुभव किया है और स्थापना दी है। सर्वविदित न्याय तिलण्डुलन्याय का उदाहरण लिया जा सकता है। यह न्याय पन्चावयव का संक्षिप्त रूप और पाश्चात्य तर्कशास्त्र के आगमन प्रणाली का प्राचीन उदाहरण है। पतीले में पक रहे चावल के एक दाने को निकालकर, उसके पके होने का ज्ञान होने से सम्पूर्ण पतीले के चावल के पके होने का अनुमान प्राचीन न्याय के अनुसार प्रमाण सम्प्लव है जबकि अरस्तू के न्यायशास्त्र के अनुसार यह न्याययुक्ति अंशव्यायी तर्कवाक्यों से सर्वव्यापी निष्कर्ष निकालने की आगमन प्रणाली है।

इसी प्रकार 'काकतालीय न्याय' का उदाहरण लें। दृष्टान्त है कि नारियल के पेड़ के नीचे पथिक बैठा था। पेड़ पर एक पका फल लटक रहा था। कहीं से उड़ता हुआ एक कौआ आकर पेड़ पर जैसे ही बैठता है, वह पका फल यात्री के सिर पर गिरता है। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाए तो यह सब संयेाग है, परन्तु न्याय प्रणाली मानती है कि यदि वह कौआ उस काल में पेड़ पर नहीं बैठता तो स्यात्

फल न गिरता। अतः फल गिरने का कारण कौअे का पेड़ पर बैठना है। इसे पाश्चात्य तर्क शास्त्र में 'मिथ्याकारण दोष' कहते हैं।

न्याय परम्परा इस प्रकार के अनेक लोकविश्रुत कथानकों का तर्क पद्धति से तालमेल कर कार्य–कारण सिद्धान्त की स्थापना, देशकाल संसर्ग तथा विषय–विषयी संयोग के रूप में अनेकधा वर्णन करती है। इसी प्रकार कुटयां प्रभातः न्याय, हस्तामलकवत् न्याय इत्यादि अन्यान्य उदाहरण हैं जिन पर प्रकाश डाला जाना शेष है।

———— ———— ————